

मधुराद्वैताचार्य श्रीगुलाबराव महाराज प्रतिपादित

समीक्षा

डार्विन का उत्क्रांतिवाद

तथा

स्पेन्सर का संशयवाद



लेखक : डॉ. कृष्ण घटाटे

! स्तुति सुमनानि !



* प्रज्ञाचक्षु श्रीगुलाबरावमहाराज का समन्वय विचार सारे जगत का बंधुभाव जागृत करने में समर्थ है ।

...परम पूजनीय गुरुजी गोळवलकर.

(एप्रिल १९७३)



* श्रीमहाराजजीने इतना सखोल तथा सटीक ज्ञान प्रकट किया है की - गागर में सागर भर दिया है.

...भारताचे पंतप्रधान
श्रीअटलबिहारी.

(दि.२४.९.१९९६)



* महाराज का सर्व धर्म समन्वयविचार देखकर उनको समन्वयमहर्षि कहनाहि उचित है ।

-मा.दत्तोपंत ठेंगडी

भारतीय मजदूर संघके संस्थापक. (लेख. दि.१९८१)



* श्रीगुलाबरावमहाराज की विज्ञान दृष्टी ऐसा कहना उचित नही ।

महाराजकी विज्ञानको प्रदान की हुई
अध्यात्मदृष्टि, - ऐसा कहना चाहिए ।

डॉ.विजय भटकर.

- पद्मश्री,पद्मभूषण संगणक वैज्ञानिक

(महाराजकी विज्ञानदृष्टी- प्रस्तावना)



* श्रीगुलाबराव महाराज के सारे ग्रंथ सभी भाषामें अनुवादित होकर विश्वके सामने आने चाहिए ।

महाराज का वैचारिक योगदान उन विषयके तज्ञ व्यक्तियोंके सामने प्रस्तुत हो, ऐसा प्रयत्न आप करें, यहीं सदिच्छा !

-पंतप्रधान श्री मोरारजी देसाई.

(दि.२०/९/१९७८)



* श्रीगुलाबरावमहाराज कोनसेभी विशेषणमें न बैठनेवाले,

विश्वनें कभीभी न देखें हुए, ऐसे अद्भुतं रोमहर्षणं व्यक्तिविशेष है ।

वह सारे जगत को वंदनीय होंगे !

और विश्वगुरु होंगे, यह निश्चित है !!!

-पू.स्वामी गोविंद देव गिरी

(श्रीकिशोरजीव्यास)



* विदर्भ में एक छोटेसे

माधानग्राम में रहनेवाले,

शिक्षण संस्कार से दूर, चर्मचक्षु से विहीन

एक किशोर बालक,

जागतिक किर्तीके डार्विन-स्पेन्सर जैसे

बड़े शास्त्रज्ञकों और तत्वज्ञोंकों

आक्लान देता है,

उनके विचारोंको गलत सिद्ध करता है,

उनका अकाट्य तर्कसे खंडन करता है,

यह कितना बड़ा आश्चर्य !

-प्रा. श्री रामभाऊ शेवाळकर

(विदर्भके मान्यवर साहित्यिक)



* महाराज नें केवल ३४ वर्ष के आयु में सिर पर किताबोंकी पेटी लेकर, ग्रामग्राम पैदल चलकर, जो कष्ट समाजको जागृत करने के लिए किए, वह अपूर्व है ।

यह उनका कष्टरूप कर्मयोग है ।

साथमें भक्तियोग भी है ।

देशहितार्थ कार्य करणवाले प्रत्येक व्यक्ति ने, महाराज के विचारसागर से,

स्वयंको उचित उपदेश स्विकार करके

समाजका प्रबोधन करना चाहिए ।

भारत के अनमोल विचारवैभव का दर्शन महाराज के द्वारा देखने को मिलता है ।

कठोर कर्मयोग तथा उत्कट भक्तियोगका समुचित आदर्श समाज के सामने रख्रा यह

असाधारण उदाहरण है ।

-सरसंघचालक श्रीमोहनजी भागवत

(दि.६/७/२०१५)



समन्वयमहर्षि
श्रीगुलाबरावमहाराज प्रतिपादित
समीक्षा
डार्विन का उत्क्रांतिवाद
तथा
स्पेन्सर का संशयवाद



आशीर्वाद :

श्रीज्ञानेश्वर मधुराद्वैत सांप्रदायिक मंडळ,
दहिसात, अमरावती विदर्भ.



डॉ. कृ.मा.घटाटे

संपर्क :

श्रीरंग घटाटे, गोकुळ बंगला, सीव्हिल लाईन नागपूर.
फोन नं. ०७१२२५३३९९७, मो. नं. ९३७२५२९७७०

प्रसाद-भेट

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका	२	परिणामवाद	२९
व्यक्ति-विशेष	३	अज्ञेयवाद और उत्क्रांतिवाद	३०
पाश्चात्य विचार समीक्षा	११	उत्क्रांति और अपक्रांति	३०
डार्विन के उत्क्रांतिवाद की समीक्षा	१४	स्पेन्सर का अज्ञेयवाद	३१
जग के मूल कारण की मीमांसा	१५	समीक्षा	
मांसपेशियों के बारे में		आन्तर पदार्थ	३१
उत्क्रांति की मीमांसा	१८	बाहरी पदार्थ	३२
१. अणु से उत्क्रांति?	२२	अज्ञेयवाद तथा अनादिवाद	३५
स्पेन्सर के संशयवाद की समीक्षा	२४	संदेहवाद	३७
जड़ से जीव की उत्पत्ति	२५	उपसंहार	३९
जगत् का कारण	२६	संदर्भ	४०
उत्क्रांति सांत या अनंत?	२८		
१. उत्क्रांति और पुर्नजन्म	२८		
उत्क्रांतिवाद	२९		
थियासाँफी में उत्क्रांतिवाद	२९		
२. उत्क्रांतिवाद और			





व्यक्ति-विशेष



समन्वय महर्षि श्रीगुलाबराव महाराज

!! शतशः प्रणाम !!

‘सारस्वत-जन्मभूः’

इस कीर्तिकरी शब्दोंसे परिचित,

विदर्भ की भूमी में अवतरित,

अलौकिक प्रतिभासंपन्न विभूती,

मधुराद्वैताचार्य श्रीगुलाबराव महाराज !

देहात मे जन्मे महाराजजीने, चर्मचक्षुहीन और अल्पायुषी होने पर भी विशाल वैचारिक साहित्यसंपदा निर्माण करी .और

वह अक्षर-पुष्पमाला

भारतमाता के चरणोंपर समर्पित की !

दिव्यचक्षु श्रीगुलाबराव महाराजका

युक्तीसे समझाने की दृढ प्रतिज्ञा थी.

वे एकमेव बुद्धिनिष्ठ संत थे !

वे वैदर्भीय धरोहर के रूपमें

समुचे विश्व को प्राप्त है !

श्रीवेदव्यासजी का स्मरण दिलानेवाली

सर्वस्पर्शी सिद्धप्रज्ञासंपन्न श्रीगुलाबरावमहाराज.

‘तया सिद्ध-प्रज्ञेचेनि लाभे ।

मनचि सारस्वते दुभे ।

सकळ शास्त्रे स्वयंभे ।

निघति मुखे’

(ज्ञानेश्वरी)

योगेश्वर

ज्ञानेश्वर महाराज का

मातृरूप मे दर्शन करनेवाले श्रीगुलाबराव महाराजजी कौन थे ?

परिचय

- | | | | |
|---|------------------|---|---|
| १ | वेद-द्रष्टा | : | समाधि में वेदोंका दर्शन करनेवाले द्रष्टा. |
| २ | वेद-श्रोता | : | समाधिस्थिति मे वेदमंत्र के श्रोता. |
| ३ | वेद-मीमांसक | : | :आन्तर्विरोधाभास के समन्वयकर्ता. |
| ४ | अपौरुषेय वेदोंकी | : | युक्ति तथा प्रमाणोंसे सिद्धी करनेवाले |
| ५ | पुराणमीमांसक | : | पुराण वाक्यों का समन्वयक ग्रंथ रचयिता |
| ६ | सूत्रकार | : | ९ सूत्रग्रंथ निरमति महर्षि. |
| ७ | आकरग्रंथ | : | संप्रदादायसुरतरू के रचयिता |

धर्माचार्य : समन्वयमहर्षि

- | | |
|----|--|
| ८ | धर्मसमन्वयके ९ प्रकार किये. |
| ९ | सर्व-धर्म-उत्पत्ति के मूल-प्रक्रिया का विश्लेषण किया. |
| १० | सर्वधर्मोंका अधिष्ठान रज-तम-नाश और सत्वगुणकी वृद्धी यह बताया |
| ११ | विश्वके ‘सर्व धर्म वैदिक धर्मकी शाखाए है’ यह सिद्ध किया. |
| १२ | इस्लाम-ख्रिश्चनार्दीका वैदिक धर्मसे साम्य स्पष्ट किया. |
| १३ | धर्मस्थापक के अपरिहार्य ४१ लक्षण बताए. |

भक्ति के आचार्य

- | | |
|----|--|
| १४ | देवर्षि नारदजीकी आज्ञासे भक्ति-धर्मकी स्थापना के लिए प्रत्येक कलियुगमें अवतरते है. |
| १५ | गोकुलके महा-रास में अपने अनुग्रहितोंको ले जाते है. |

भाष्यकार आचार्य

- | | |
|----|---|
| १६ | भागवत,सांख्यसूत्र,योगसूत्र,संतवचनादीपर भाष्य किया. |
| १७ | षट्दर्शनों के भाष्यकार आचार्य थे. |
| १८ | वेद-पुराण-धर्म-दर्शन-शास्त्र और संतवचनोंका विरोध-परिहार करके समन्वय किया. |

मधुराद्वैताचार्य

- | | |
|----|--|
| १९ | मधुराद्वैत-दर्शन के उद्घाटक थे. |
| २० | सगुण-साकार-एकदेशीय प्रतीत होनेवाला भगवद् देह पूर्ण रूपसे सच्चिदानंद ब्रह्म है यह युक्ति और प्रमाणोंसे सिद्ध किया |
| २१ | यह भगवद्विग्रहको ‘अनध्यस्तविवर्त’ यह नई संज्ञा देकर शांकर-अद्वैतको ज्ञानोत्तर माधुर्यभक्तीसे मधुर किया. |
| २२ | उपासना- ज्ञानपूर्व और भक्ती- ज्ञानोत्तर होती है, ऐसा सिद्ध किया. |
| २३ | ‘तत्त्वमसि’ यह महावाक्यसे अद्वैतज्ञानके बाद पराभक्तीका स्थान है, यह सिद्ध किया. |

पाश्चात्य विचार समीक्षा

(५)

- २४ पराभक्ति यह *सर्वभाव-समावेशक, *सर्वश्रेष्ठ, *विषयभावरहित है और 'तत्-सुख-सुखित्व'पर अधिष्ठित है यह स्पष्ट किया।
- २६ सच्चिदानंद के आनंदांश पर भक्तिकी स्थापना की।
- २७ भक्तिकी १६ प्रकार स्पष्ट किए।
- *ज्ञानपूर्व-उपासना : श्रवणसे सख्यभक्ति तक - ८ प्रकार।
- *ज्ञानोत्तर-मध्यमा : आत्मनिवेदनसे लालन तक - ४ प्रकार
- *ज्ञानोत्तर-पराभक्ति : माधुर्यभक्तिक २.संयोगके और २.वियोगके मिलकर ४ प्रकार।
- २८ परब्रह्मका अस्फुरण याने ज्ञान और स्फुरण याने भक्ति, यह समझाया।

सांख्यदर्शन : ५ ग्रंथ

- २९ सेश्वर-सांख्य की सिद्धी की।
- ३० सांख्य और योग, सांख्य और वेदान्त, परस्पर पूरक और समन्वित है यह भी सिद्ध किया।

योगदर्शन : ८ ग्रंथ

- ३१ अनेक नवनवीन योगप्रक्रियों की निर्मिती की।
- ३२ कुंडलिनी-चक्रादि संबंधी आधुनिक अभ्यासकों का भ्रम दूर किया।
- ३३ योगसाधनामें वेदमंत्र सुननेकी प्रक्रिया बताई।
- ३४ नई योग-सूत्र-संहिता की निर्मिती की।
- ३५ वेद और विश्व की सभी भाषा, अर्थ के तरफ एकाग्र होने से आकलन होती है यह स्वानुभव कथन किया।

न्यायदर्शन से विज्ञानशोध

- ३६ न्यायके प्रत्यक्षखंडके अध्ययनसे आर्य-विज्ञानके विकासकी दिशा दर्शाई।
- ३६ न्यायदर्शनप्रणीत विज्ञानकी प्रगति करने के लिए आस्तिक-नास्तिक सबको एक होनेका आवाहन किया।
- ३७ सभी लेखन-प्रतिपादन न्यायघटित युक्तिवादसे किया।

पूर्वमीमांसा : २ ग्रंथ

- ३८ पूर्वमीमांसा दर्शनके वे आचार्य थे. दो सूत्रग्रंथ लिखे.

आयुर्वेद : ६ ग्रंथ

- ३९ मानसायुर्वेदादि ८ ग्रंथों की निर्मिती की।
- ४० नया मूलभूत 'द्रव्य-गुण-सिद्धांत' प्रतिपादन किया।
- ४१ अलोपथीके जंतुकारणवादका खंडन करके आयुर्वेदका मनोविकार-कारणवाद सिद्ध किया।

(६)

- ४२ किस मनोविकारसे कौनसा रोग और किस रोग से कौनसा विकार उद्भूत होता है; इसकी जानकारी दी।
- शिक्षा : शिष्य
- ४३ 'सुसंस्कारोंका दान याने शिक्षा' ऐसा शिक्षाका सारभूत लक्षण बताया।
- ४५ शिष्योंपर अपार प्रेम था।
- ४६ शिष्यका अवमान कदापि सहन नहीं किया।
- ४७ स्वशिष्योंको नमन करके मंगलाचरण में स्थान देनेवाले वे पहलेही महापुरुष थे।

संगीत : २ ग्रंथ

- ४८ संगीतशास्त्र निर्माण किया. 'गानसोपान'
- ४९ पूर्ण रसास्वाद के लिए संगीत-चतुष्टय का महत्व बताया।
- ५० गानसोपान ग्रंथ में मार्गी और देशी संगीत का सुस्पष्ट विवेचन किया।
- ५१ संतोंके भक्तिसंगीतकों मार्गी याने वैदिक संगीतका दर्जा प्रदान किया।
- ५२ नयी १२८ वृत्तों की रचना की।
- ५३ नवीन छंदों के रचनाकार थे. छंदप्रदीप
- ५४ पं.भातखंडेंजीका 'महर्षि-विरोध' किमपि सहन नहीं किया. अपितु कठोर भाषा में खंडन तथा निषेध किया।

काव्यशास्त्र - सूत्ररचना

- ५५ 'काव्यसूत्रसंहिता' निर्माण की।
- ५६ स्वयं कवी थे,
- ५७ काव्यज्ञ थे,
- ५८ गायक थे,
- ५९ काव्यशास्त्रके निर्माता भी थे

भाषा

- ६० त्रिभाषासूत्र : संस्कृत-मातृभाषा-राजभाषा ये तिनों को आत्मसात करनेका सबको आवाहन किया।
- ६१ नयी नावंगभाषा निर्माण की।
- ६२ नावंगभाषाका व्याकरण भी निर्माण किया।
- ६३ नवीन सांकेतिक-लघु-लिपी का निर्माण किया।
- ६४ भाषा में होनेवाले दोष वर्णन किये।
- ६५ नये शब्द निर्माण किये. (अनध्यस्तविवर्तादि)
- ६६ अंग्रेजी शब्दोंके लिए तत्काल पर्याय शब्द निर्माण किये।
- ६७ संस्कृतमें ११ पत्र लिखे।

पाश्चात्य विचार समीक्षा

(b)

- ६८ संस्कृतमें ४१ गेय पदोंकी रचना की.
६९ संस्कृतमें स्तोत्ररचना की.
७० संस्कृतमें कीर्तन किया.

क्रीडा

- ७१ खेल-खेल में परमार्थ प्राप्तीकी प्रक्रिया निर्माण की.
*उपनिषदादि शास्त्रीय आधारसे मोक्षपट निर्माण किया.
*सांप-सिद्धी के रूपमें उपनिषदादि से स्थानयोजना की.

मनोविज्ञान

- ७२ मानसशास्त्रको नयी भारतीय दृष्टी दी.
७३ मनोविश्लेषण से उन्नतीका मार्ग बताया.
७४ मानस-शक्ति का अनुभव दर्शाया.
७५ भारतीय मत और मेस्मेरिज्म आदि पाश्चात्य मतोंका तौलनिक मूल्यमापन किया.

दांभिकता तथा बुवाबाजी

- ७६ चमत्कारोंका प्रखर और मर्मभेदी वाणीसे निषेध किया.
७७ महंतोंके बुवाबाजीका दंभस्फोट किया.
७८ ढोंगी साधुको प्रश्न पूछनेके लिए 'प्रश्नकदंब'ग्रंथ लिखा.
७९ 'अमानित्व' के लिए स्वयंका अपमान करवाते थे.
८० अनाहूत श्रोता तथा प्रेक्षकोंकी भीड देखतेही वह स्थान छोड देते थे.

इतिहास

- ८१ इतिहासको नयी दृष्टि दी.
८२ *इतिहास कैसा लिखा जाए, *किसने लिखना चाहिए तथा कौनसे इतिहासपर विश्वास रखे, इसका समुचित मार्गदर्शन किया.
८३ स्व-उत्कर्ष-बोधक इतिहासही क्यों सिखाया जाए, इसका मर्म बताया.

आर्य

- ८४ आर्य-शब्दका अर्थ : "सुसंस्कृत मनुष्य" इतनाही है, वंशवाचक नहीं, यह ऐतिहासिक सत्य समर्थ युक्तिवादसे सिद्ध किया.
८५ आर्य भारतमें बाहरसे आये इसका समूल खंडन किया.
८६ आर्य बाहरसे भारतमें आये या भारतसे बाहर गये, यह दोनों मतोंका याने आगमन-निर्गमन मत का पूर्ण रूपसे खंडन किया
८७ विश्वव्यापक आर्यसंस्कृति का सिद्धांत प्रतिपादन किया.
८८ तीन हजार वर्षापूर्व सर्व जगत् में एकमेव आर्य संस्कृतीही थी, यह सप्रमाण सिद्ध करनेवाले पहलेही महापुरुष थे.

(c)

- ८९ शूद्र-वर्ण आर्योंका एक हिस्सा है, यह प्रमाणित किया.
९० पाश्चात्योंने किया हुआ हिंदुसंस्कृतिका विकृतीकरण खत्म करनेके लिए पूर्णरूपसे मार्गदर्शन किया.

विज्ञान

- ९१ आधुनिक विज्ञान के लिए नवदृष्टिदाता बने. !
९२ न्यायशास्त्रके अनुसार आधुनिक विज्ञान में शोध कैसे लगाये जाए, सोदाहरण विवेचन किया.
९३ आधुनिक शास्त्रोंका मूल भारतीयही है यह दिखानेके लिए वैदिकप्रमाण- पुरस्सर कैसे ग्रंथ लिखने चाहिए, इसका सोदाहरण मार्गदर्शन किया ।
९४ चर्मचक्षुहीन होने के बावजूद भारतीयोंका अथांग विचारवैभव अपने लेखनसे प्रगट किए.

विश्वोत्पत्तीकी स्फुरण प्रक्रिया

- ९५ ब्रह्म-वृत्ति-स्फुरणसे विश्वोत्पत्ति : यह मूलभूत विश्वनिर्मितीकी प्रक्रिया प्रथमतः विस्तारसे प्रगट की.
९६ ब्रह्मवृत्तिस्फुरणकी परिणती प्रथमतः पृथ्वीतत्त्वमें और अंतमें सगुण-साकार भगवद् विग्रहतक याने "अनध्यस्त-विवर्त" तक ले जानेवाले श्रीगुलाबराव महाराजही है.

पाश्चात्य मतोंकी समीक्षा

- ९७ अँटम्-थियरीकी अपूर्व समीक्षा की तथा खंडनभी किया.
९८ डार्विनके उत्क्रांतिवादका खंडन किया..
९९ स्पेन्सरके संशयवादका खंडन किया.
१०० अँनी बेइंटके थियाँसफी का खंडन किया.
१०१ मायर्सकी समीक्षा की.
१०२ नास्तिकवाद समूल खंडन.
१०३ जडवादका खंडन करके सर्वचेतनवादको सिद्ध किया.

नीतिशास्त्र

- १०४ परकीय और भारतीय नीतीका मूल्यमापन किया..
१०५ बेकन / अँनी बेइंट / प्लेटो इ.का भी खंडन किया.

कीर्तन

- १०६ कीर्तनमें पूर्वरंग-उत्तररंग कैसे रहे, इसका मार्गदर्शनकिया.
१०७ अभंगके ७ तथा पदोंके १८ आख्यानोंकी निर्मिती की.

समन्वयमहर्षि श्रीगुलाबराव महाराज

पाश्चात्य विचार समीक्षा

डार्विनका उत्क्रांतिवाद

तथा

स्पेन्सर का संशयवाद

प्रास्ताविक

महाराज द्वारा किए गए मूल्यमापन से पाश्चात्य तत्त्वज्ञान को एक नया अर्थ प्राप्त हुआ है। उस समय भारतीयों के मन में भारतीय विचारों के प्रति न्यूनता का भाव निर्माण हो चुका था। इस पृष्ठभूमि पर सोच-विचार कर, इसके कारणों को जान लेने के बाद ही महाराज के कार्य की महत्ता स्पष्ट हो सकेगी।

ब्रिटिशों के शासन काल से पहले भी ईसाई लोगों ने अपने धर्म और राज्य की स्थापना करने के लिए कई योजनाएँ बनाई, उनमें वे सफल भी हुए। ये घटनाएँ बड़ी रोचक हैं।

पाश्चात्य ईसाई मिशनरी लोगों ने हमारी संस्कृति का मूल खोजा और उस पर प्रहार किए। लार्ड मैकाले, मैक्समूलर आदि के व्यक्तिगत पत्रों को पढ़ने पर यह ज्ञात होता है, कि उनका मूल उद्देश्य क्या था, उसके लिए उन्होंने क्या प्रयत्न किए और वे कैसे सफल हुए। एक बार एक ब्रिटिश अफसर और ब्राह्मण मद्रास में, एक साथ जा रहे थे, तो लोगों ने ब्रिटिश अफसर से हाथ मिलाया और ब्राह्मण को साष्टांग नमस्कार (दंडवत्) किया। (यह स्थिति अंग्रेजों के शासन काल के आरंभिक दिनों में हिन्दुस्तान में सर्वत्र थी।) इस छोटे से प्रसंग से राजनीति में प्रवीण अंग्रेजों ने उचित पाठ सीखा और तय किया कि हिंदू मन से धर्म प्रभाव हटा देने पर हम निरंकुश होकर राज

कर पाएँगे। और ख्रिस्ती धर्म का प्रचार कर सकेंगे। अतः उन्होंने शिक्षा को सर्वोच्च महत्ता दी। शिक्षा की नई प्रणाली अपनाई। पुरानी पाठशालाओं का अनुदान बंद किया। अंग्रेजी सीखने वालों को उच्च पद की नौकरी और प्रतिष्ठा प्राप्त होने लगी। स्वाभाविक रूप से बुद्धिमानों का वर्ग अंग्रेजी शिक्षा की ओर आकर्षित हुआ और धीरे-धीरे संस्कृत की शिक्षा कमजोर पड़ती गई। किन्तु अंग्रेजों के युग में कॉलेज तक संस्कृत का पठन आवश्यक या अनिवार्य ही माना गया था। अतः अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय देते हुए भी अंग्रेज संस्कृत को कमजोर बनाते जा रहे थे। इन सबका कुल मिलाकर प्रभाव यूँ हुआ कि मैकाले की इच्छा के अनुसार भारतीय लोगों ने अपनी तर्कप्रधान न्याय-पद्धति का अभ्यास करना छोड़ दिया। और ब्रिटिश सत्ता और यूरोपियन बुद्धि की प्रशंसा करने लगे। अंत में यह हुआ कि अंग्रेज भारत छोड़ गए। लेकिन उनकी पाश्चात्य संस्कृति भारतीयों के लिए आदर्श बनकर रह गई। आचार-विचार, पहनावा सभी के लिए हम उनकी ओर देखने लगे। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी संस्कृत और न्याय वैशेषिक शास्त्रों के पुराने आर्यभौतिकशास्त्रों को पुनरुज्जीवित करने के लिए संस्कृत को कॉलेज से बाहर प्रयत्न करने पड़े। पहले हम भारतीय लोग न्यायशास्त्र की तर्कपद्धति का अवलंब कर रहे थे, सभी नए विचारों का परीक्षण किया जाता था। और उसकी ग्राह्यता की परख होती थी। किन्तु अंग्रेजों ने इन शास्त्रों के प्रति हमारे मन से श्रद्धाभाव ही बाहर निकाल फेंका। धर्म को अफीम की गोली मानना मार्क्सवादियों ने सिखाया। कुल मिलाकर सभी हिंदू-विरोधी प्रवृत्तियों ने हमारी बुद्धि को भ्रष्ट करना प्रारंभ किया। उन सबका सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि हम पाश्चात्य तत्त्वचिंतकों के निकृष्ट विचारों को भी अंधश्रद्धा भाव से स्वीकार करने लगे। किन्तु उनकी देशभक्ति,

पाश्चात्य विचार समीक्षा

(१३)

अनुशासन, कर्मठता और भौतिकशास्त्र की उन्नति को नहीं पहचान सके। उसमें केवल एक ही तथ्य महत्त्वपूर्ण है, कि हम सुशिक्षितों ने उत्क्रांतिवाद के तत्त्वज्ञान को स्वीकार किया। कुल मिलाकर जहाँ विशुद्ध विचारों की कसौटी रखकर काम करना था, वहाँ अंधविश्वास को धर दिया। और जहाँ युक्ति की आवश्यकता है, वहाँ गुणों को स्वीकार नहीं किया। खैर, इस उत्क्रांतिवाद का हम चाहे जैसा उपयोग करने लगे। मानव इतिहास में उत्क्रांतिवाद, धर्म कल्पना में उत्क्रांतिवाद, भाषाशास्त्र में उत्क्रांतिवाद ऐसा सभी जगहों में उत्क्रांतिवाद का लेबल लगाने लगे। किन्तु वास्तव में उत्क्रांतिवाद का सही इतिहास जानकर निरीक्षण किया जाए तो परिस्थिति विपरीत ही जान पड़ती है।

हमारे पुरखे देह से बलवान थे। उनकी आयु भी अधिक रहा करती थी। पहले आम लोगों में भी सत्यप्रियता, परोपकार-भाव, दया, श्रद्धा, शांतिप्रियता आदि अनेक गुण होते थे। आज भी नई शिक्षा के संस्कार से दूर हिमालय की तराई के जात-जमातों में चोरी, झूठ बोलना आदि दुर्गुण नहीं मिलते। किन्तु जो स्वयं को उत्क्रांत मानते हैं, उन सुशिक्षितों में ये दुर्गुण बड़ी मात्रा में उपलब्ध हैं। वे यह मानकर चलते हैं, कि नीति नियम मूर्खों के लिए होते हैं। मॉडर्न सोसायटी में काम भावना को स्वाभाविक भूख मानकर उसके अनुरूप स्वैर वर्तन ही उच्चभू लोगों की नीति मानी जाने लगी। उसी तरह से स्वैराचार और सभी बंधनों से मुक्त होने का वह प्रयत्न मनुष्य को पुनः जंगली जानवरों की कतार में ले जाकर बिठा देगा, ऐसे चिह्न दिखलाई देने लगे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि उत्क्रांतिवाद पूरी तरह से झूठा साबित हो रहा है। अब लग रहा है, कि हम आर्यों का परिवर्तनवाद यानी “संसार का चक्रनेमिक्रम ही जग का सही नियम तय है।”

हम आर्य उत्क्रांति को प्रयत्नशील मानते हैं, पाश्चात्यों की

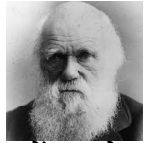
(१४)

तरह स्वाभाविक नहीं। प्रयत्न करने पर ही नर नारायण हो सकता है और वासना में बहता जाएगा तो वह नर से पशु बन जाएगा। इसी सनातन तत्त्व को आर्य तत्त्व ज्ञान में माना गया है। महाराज समयोपदेश, अलौकिक व्याख्यानमाला और पत्रों के माध्यम से इस विषय पर विस्तार से लिखते हैं। उन्होंने डार्विन, स्पेन्सर आदि के मतों का उथलाभाव स्पष्ट और युक्ति की सहायता से प्रस्तुत किया है।



१.

डार्विन के उत्क्रांतिवाद की समीक्षा



डार्विन ने ‘ओरिजीन ऑफ स्पेसीज’ ग्रंथ में अपने उत्क्रांतिवाद को १८५८ में, लिखा है। उसमें ‘स्ट्रुगल फार एक्झिस्टन्स’ और ‘सरव्हायवल ऑफ दि फिटेस्ट’ के महत्त्वपूर्ण सूत्रों में सारे तत्त्वज्ञान को बिठाया है।

डार्विन के विचार

पहले मछली थी, उससे बंदर बना, आज वही मनुष्य है अर्थात् मनुष्य का आदि रूप बंदर था। उसी तरह पृथ्वी का आदि रूप वायु था, फिर बादल, या बाष्प बना, और इन सबका कोई एक कारण होना ही चाहिए यह डार्विन का विचार था।

१. जीवित वस्तुओं की प्रजनन शक्ति उत्क्रांति को आगे बढ़ाने वाली है। २. उसकी परिवर्तन की यह ताकत अनेक प्रकार के प्राणी और पौधों का निर्माण करती है, और अपने को सशक्त बनाती है। ३. फिर भी उत्क्रांति की दिशा तय करने का महत्त्वपूर्ण कार्य स्वभावतः परिवेश या वातावरण (नॅचरल सिलेक्शन) ही करता है। यह संक्षेप में डार्विन की विचारधारा के तत्त्व हैं।१

डार्विन के इस उत्क्रांतिवाद पर महाराज भारतीय न्यायशास्त्र के

अनुसार अनेक तर्क उपस्थित करते हैं। अपने ही भारतीय विचारों के अनुसार सृष्टि का क्रम 'चक्रनेमिक्रम' है। उसे केवल उत्क्रांति या केवल अपक्रांति नहीं माना जा सकता, यह महाराज सिद्ध कर दिखलाते हैं। हर जीव उत्क्रांत हो सकता है, और अपक्रांत भी। किन्तु जीव के कठोर परिश्रम से उसकी केवल उत्क्रांति ही संभव है, और वह नर से नारायण हो सकता है। यह 'प्रयत्नवाद' डार्विन के उत्क्रांतिवाद से कई गुना ऊँचे दर्जे का विचार है।

समीक्षा^३

जग के मूल कारण की मीमांसा

१. सारी सृष्टि का कारण एक ही होगा तो वह उपादान या निमित्त है? यह तय करना है। क्योंकि यदि वह निमित्त कारण है तो उपादान से अलग होगा और ऐसी दशा में निमित्त कारण की उत्क्रांति का कोई प्रयोजन स्पष्ट नहीं होता।

यदि जग का कारण केवल उपादान ही है तो वह क्या है? (घड़े के लिए मिट्टी उपादान और कुम्हार निमित्त है।) उसमें उत्क्रांति की ताकत आई कहाँ से? बाहर से मानी जाए तो वह निमित्त कारण और उपादान कारण से भिन्न मानना होगा। फिर इस कारण को (निसर्ग) सृष्टि या ईश्वर कहना होगा।

२. उत्क्रांति की सामर्थ्य कारण में निहित होना स्वाभाविक है, यह मान लिया जाए तो जग में भूतकाल, वर्तमान और भविष्य घटित होने वाले सभी प्रसंग बीज रूप में अनादि ही रहे होंगे। (फिजिक्स और गीता का सिद्धांत यह है, कि कोई भी पदार्थ नष्ट नहीं होता या सर्वथा, नई ऐसी कोई वस्तु निर्माण नहीं हो सकती। केवल उसमें परिवर्तन संभव है—जैसे मोमबत्ती के जलने पर वह नष्ट नहीं होती। नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।)

३. सभी बातें जग के कारण में, बीज रूप से या शक्ति रूप में अनादि होती हैं। और उन सभी की समान उत्क्रांति होनी चाहिए थी, वह नहीं हुई—क्यों? आज जो प्राचीन हड्डियों के ढाँचे (फासिल्स) मिल रहे हैं। उनसे हमारा शरीर बहुत छोटा है अर्थात् शरीर की उत्क्रांति न होकर अपक्रांति हुई है।

४. डार्विन एक प्रसंग में लिखते हैं, कि मनुष्य की स्तुतिप्रियता धीरे-धीरे नष्ट हो जाएगी और उसकी बुद्धि का विकास होगा। इस पर महाराज प्रश्न पूछते हैं कि, स्तुतिप्रियता और कर्तव्यबोध यदि एक ही व्यक्ति के मन के गुण कहलाते हैं, तो एक का न्हास और दूसरे का विकास, ऐसा क्यों होता है?

५. जग का कारण एक ही माना जाए, उसमें भी इतनी विविधताओं को बतलाया जाए तो इन विविधताओं को नियंत्रित करने वाली शक्ति कौन-सी है? यह भी बतलाना जरूरी है।

* इस शक्ति का अस्तित्व बाहर ही मानना होगा। ऐसी यह निमित्त कारण रूप बाह्य शक्ति कौन-सी है (सृष्टि या ईश्वर)?

६. उत्क्रांति किसकी होती है—कारण सहित शक्ति में या केवल शक्ति में?

७. उत्क्रांति का कारणसहित रूप मानने पर उपरोक्त मूल कारणों की अपक्रांति होकर उससे होने वाले कार्य की पुनः धीरे-धीरे उत्क्रांति होनी चाहिए। और ऐसा मान लेने पर यह झूठ साबित होगा कि कारण अनंत होता है।

८. उत्क्रांति कारण की न होकर शक्ति में होती है, यह मान लेने पर प्रश्न यह है कि, कारण में यह शक्ति आई कहाँ से? उसे स्वाभाविक मानने पर फिर उपरोक्त अवस्था ही स्पष्ट होती है।

* कारण के नष्ट होने पर कार्य ही कार्य और फिर उससे कार्य

यूँ होता ही रहता है। और सुदूर भविष्य में “कुछ सजीव-निर्जीव, विरोधी-अविरोधी, एक ही कार्य” रह जाएगा। और ऐसा होने पर उत्क्रांतिही थम जाएगी।

९. यदि ऐसा मान लें कि उत्क्रांति कभी समाप्त नहीं होती वह सदैव होती ही रहेगी तो उत्क्रांति का अंतिम रूप कोई नहीं है, उसकी कोई भी अवस्था प्रथम दशा ही कहलाएगी। फिर तो किसी भी वस्तु की अपक्रांति नहीं होनी चाहिए। यही अनियमित सिद्धांत ही उत्क्रांति का नियम कहलाएगा?

१०. यह सारी सृष्टि जिस आकाश और समय में होती है उनकी उत्क्रांति को क्यों नहीं माना जाता?

* उत्क्रांतिवाद इन प्रश्नों के उत्तर नहीं देता। अर्थात् कुछ पदार्थ उत्क्रांत होते हैं और कुछ वैसे ही स्थिर बने रहते हैं, ऐसा ही कहना होगा।

* फिर इसे सारी सृष्टि की उत्क्रांति, किसी की अपक्रांति, किसी का रूपांतर, किसी की अखंडता, क्या इन सारों को उत्क्रांति ही कहा जाय?

११. केवल द्रव्य ही उत्क्रांत होता है, यह मानने से उत्क्रांति का उपादान और निमित्त कारण, दोनों को द्रव्यरूप मानें या द्रव्यरहित मानें?

* द्रव्यरूप मानने से दो द्रव्यों की उत्क्रांति किस द्रव्य से हुई होगी?

* दोनों कारणों को प्रवाहित मानने पर उनसे द्रव्य की उत्क्रांति कैसी होगी?

१२. आग्रहपूर्वक यदि यह कहा जाए कि द्रव्य ही नित्य है, और उसकी ही उत्क्रांति होती है, तो द्रव्य की एक अवस्था को

उत्क्रांति कहना होगा (अर्थात् एक गुण की उत्क्रांति तो दूसरे गुण की अपक्रांति को मानना होगा।)

मांसपेशियों के बारे में उत्क्रांति की मीमांसा

१३. उत्क्रांति किसकी? मांसपेशियों में ज्ञान की या शरीर की?

* उत्क्रांति शरीर की धीरे-धीरे अपक्रांति होती है। मछली से बंदर बना तो मछली नष्ट होनी चाहिए थी। बंदर से मनुष्य बना है तो बंदर नष्ट होना चाहिए। (किन्तु मनुष्य, बंदर, मछली सभी हैं।)

* यूँ मानने पर कारण के अनादि अनंत भाव को हम अस्वीकार करते हैं।

१४. मांसपेशियों में ज्ञान की उत्क्रांति होती है, यह माना जाए तो मछली और मनुष्य की ज्ञानशक्ति एक सी होनी चाहिए। इन दोनों को अपना हित अच्छी तरह से समझता है। अनुकूल वेदनाभाव और प्रतिकूल वेदनाभाव एक सा हो जाए तो ज्ञान की उत्क्रांति का अर्थ क्या हो सकता है?

१५. मछली की तुलना में मनुष्य का ज्ञान श्रेष्ठ है, यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उनके सुख के विषय ही भिन्न-भिन्न हैं। मछली काई खाती है, तो मनुष्य घी खाता है। एक का विषय दूसरे के लिए वर्ज्य है।

ऐसे अनेक प्रश्न-उपप्रश्न महाराज उपस्थित करते हैं। इस बारे में अलौकिक व्याख्यानमाला के दूसरे व्याख्यान में बंदर और मानव के संबंधों पर विस्तार से लिखा है। और इस संबंधों का खंडन भी किया है।३

* इस संसार से ही हमारी इच्छाएँ उत्पन्न हुई हैं, अतः इस संसार में ही वे पूर्ण भी होंगी, यह उत्क्रांतिवादीयों का मत है।

बंदर से मानव की व्युत्पत्ति का अर्थ फिर इस बात के उत्तर में

निहित है, कि क्या बंदर की इच्छाएँ मनुष्य की देह में पूर्ण हुई हैं? अतः महाराज पूछते हैं, कि यह मान्यता केवल पागलपन और बचकाना खेल है।

* उत्क्रांति का अर्थ है, कि वस्तु जैसे-जैसे उत्क्रांत होती है उस क्रम में उसकी कमियाँ दूर होती रहती हैं। कल्पना करने के लिए यह सब अच्छा ही है, किन्तु व्यवहार में वैसा नहीं दिखलाई देता। कोई मनुष्य बुद्धि से विकसित होते हुए भी शरीर से दुबला-पतला ही रहता है। कोई शरीर से बलिष्ठ होता है, किन्तु दिमाग से कमजोर। अतः सभी दृष्टियों से न्यूनता कम होना कभी भी संभव नहीं है।

बंदर की इच्छाएँ मानव शरीर में पूरी होने का अर्थ क्या है? उसे अच्छे ढंग से खाना-पीना आता है? या शास्त्रज्ञान जानता है? बंदर में खाने-पीने, शास्त्र ज्ञान पढ़ने की इच्छाएँ तो थीं ही नहीं किन्तु हम यह भी मान नहीं सकते कि मनुष्य भी अच्छा खाता-पीता है, ज्ञान बढ़ाता है, क्योंकि पहले उसकी आवश्यकताएँ कम थीं। उसे न घर की जरूरत थी न पत्नी-बच्चों का मोह था, न ही परिवार के पालन-पोषण की जिम्मेदारी थी। फल-फूल खाकर उसका निभ जाता था। अकाल की स्थिति में वह मरता नहीं था। धूप, हवा, वर्षा, प्यास, भूख आदि सब वह सहन करता था। इस स्थिति में बंदर यदि मानव शरीर में आता है, तो नुकसान उसी का हुआ है। उसकी इच्छाएँ बढ़ गई हैं। उसी तरह से उनका दुःख भी अधिक हो गया है, और सुख कम हो गया है। इसे ही यदि उत्क्रांति जैसा सुंदर सा नामकरण दिया गया हो, तो क्या पता चलता है? सुधार के परिणाम के रूप में आज के अति विकसित पाश्चात्य राष्ट्रों में **न्यूड क्लब** में निसर्ग के अनुरूप वस्त्ररहित रहना, स्वाभाविक चिकित्सा, निसर्गोपचार आदि फैशन चल पड़े हैं। आवश्यकता से अधिक धन और सुख के

सर्वोत्तम साधन एकत्रित करके भी अब उनसे मन ऊबने लगा है। अब उन्हें जंगली स्थिति ही भाने लगी है। उस जंगली अवस्था से तथाकथित मानव उत्क्रांति होगी। यूँ माना जाए तो पुनः उसी दशा को प्राप्त करना उत्क्रांति होगी या अपक्रांति कहलाएगी? पाश्चात्य राष्ट्रों में बंदर से मानव बन गए होंगे तो आजके हिप्पी ही उनकी उत्क्रांति कहलाएँगे।

ठीक है, बुद्धि की उत्क्रांति कहने पर भी बड़ा विचित्र लगता है। अमेरिका, रूस इन्होंने अणुशक्ति की खोज की, इससे साध्य क्या हुआ कि जापान के हमारे ही सजातीय प्राणियों (मनुष्य) का विनाश हुआ। अमेरिका ने मानव जाति के रोगों को दूर करने के लिए वियतनाम में जहरीली वायु को बिखेरा, हंगरी में आधुनिक तंत्रों से देशभक्तों को पीड़ित किया, जर्मनी ने ज्यू की हत्या की, बर्लिन का प्रश्न ज्यों का त्यों ही है, पाकिस्तानियों ने आधुनिक तंत्र का इस्तेमाल करके अपने ही देशवासियों पर पशुवत् अत्याचार किए, और उसे सभी उत्क्रांत कहलाने वाले राष्ट्रों ने मनःपूर्वक अनुमोदन देकर शस्त्रास्त्रों से सहायता की। क्या इस तरह से राक्षसी प्रवृत्ति बढ़ने का अर्थ उत्क्रांति कही जाए? भारतीय संस्कृति में न्याय, दया, करुणा, परोपकार दूसरों के लिए सर्वस्व त्याग भावना आदि गुणों को सद्गुण कहा गया है। सत्ता की लालसा त्याज्य मानी गई है। राम द्वारा रावण की पराजय हुई किन्तु विभीषण को उसका राज्य वापस दिला दिया। बालि का राज्य सुग्रीव को दिया। कृष्ण ने जरासंध, नरकासुर, कंस आदि का वध किया किन्तु उनका राज्य नहीं लिया, उनके ही पुत्रों को दे दिया। आज इंदिरा गांधी ने भी यही किया है। उसी भारतीय संस्कृति के सद्गुणों में वृद्धि किस ओर जा रही है और पाश्चात्यों की स्वार्थी, राक्षसी वृत्ति किस दिशा में बह रही है।

नीतिमत्ता का बढ़ना आध्यात्मिक प्रगति होने को ही उत्क्रांति कहें, वह पहले अधिक थी और आज अपक्रांति है। यह भारत के इतिहास से स्पष्ट ही दिखलाई देता है। मनुष्यों में परस्पर सहकार्य की भावना बढ़े, द्वेष भाव कम हो, विकार नष्ट हों, विचारों से विकारों पर संयम पाएँ, आदि भारतीयों ने सही उत्क्रांति मानी है। यह भी स्वभावतः नहीं होती, वरन् प्रयत्न से होती है। प्रयत्नवाद से उत्पन्न यह उत्क्रांति भारतीय तत्त्वज्ञान की विशेषता है। उत्क्रांति और अपक्रांति यह जीवन का स्वाभाविक क्रम है। इस चक्र से छूटने के लिए बड़े कठोर श्रम करने होते हैं। इन नियमों से मन के विकारों को शांत करना होता है। देह को विचारों के अधीन रखकर, स्वयं जगका आदिकारण यानी परमेश्वर में मिलने के लिए प्रखरता से प्रयत्नरत रहना चाहिए। “अनवरत होती रही वर्षा। इस भक्ति की यह महिमा। वहाँ वर्षा का वास। मेरा ही स्वरूप॥-ज्ञानेश्वरी॥ नर से नारायण बनने की यह उत्क्रांति सच्ची उत्क्रांति है। और पुनः उसे पाश्चात्य विचारों के अनुसार ‘स्वाभाविक’ न होकर ‘प्रायत्निक’ कहा जाता है। यह अवश्य ध्यान में रखा जाए।”

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं-

“नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति॥”

“तेषां अहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्॥”

इस भगवद् वचन में दया और न्याय दोनों ही भाव स्पष्ट हैं। दूसरों को सुधारना और जिद्दी और दुर्गुणी लोगों को उनके ही कर्म का फल देने का न्याय भी यहाँ दिखलाई देता है। उसी तरह महाराज का एक विधान बड़ा ही मार्मिक और विलक्षण है। उससे उनका आत्मविश्वास व्यक्त होता है। वे कहते हैं-“हम उनसे बहुत आगे निकल चुके हैं, और उनके विचार वही बने रहेंगे, अतः हमें चाहिए

कि उनके विचारों को हम छोड़ दें।”

१. अणु से उत्क्रांति?

उत्क्रांति का प्रारंभ बिंदु क्या है?, इसका विचार करने पर कितनी भी बुद्धि का प्रयोग करें उत्क्रांति का प्रथम रूप अणु ही मानना होता है। इस पर महाराज अलौकिक व्याख्यानमाला के नौवें व्याख्यान में विस्तार से कहते हैं। और सभी पाश्चात्य विचारकों की भूलें बतलाई हैं। महाराज की भाषा इस समय शास्त्रीय बन जाती है। उसे देखकर हमारी भारतीय संस्कृति में विचार की जो रीति है, उसकी अभेद्यता का परिचय मिलता है।

उत्क्रांति की पहली कड़ी अणु ज्ञानरूप है या जड़रूप है, इस पर महाराज के विचार संक्षेप में इस प्रकार हैं-

१. “चेतन अणु ही उत्क्रांति की पहली कड़ी है” इस विचार को मानने से सभी अणु चेतन होंगे। उनमें से प्रत्येक अणु स्वतंत्र होगा। चेतन का अर्थ है-अहसास, अनुभूति से पूर्ण अर्थात् ज्ञानसंपन्न। इस कारण सभी अणु भिन्न-भिन्न हैं। अतः उनके विकास की दिशा भिन्न-भिन्न ही रहेगी। हर अणु जैसा होगा उस तार से उसकी प्रवृत्ति रहेगी। अतः सामूहिक उत्क्रांति का प्रश्न ही नहीं उभरता।

२. मान लीजिए कि सभी अणुओं में उत्क्रांति का उद्देश्य या लक्ष्य एक ही है। तो क्या यह समान अभिप्राय का भाव बाहरी शक्ति के अधीन है? या उत्क्रांति का प्रयोजन हर अणु को ज्ञात होने से उत्तर नहीं मिल पाते।

३. “यदि इन अणुओं को दूसरी शक्ति के अधीन माना जाए” तो अणुओं को जड़ मानना होगा। और उस शक्ति को चेतन तथा जड़

अणुओं से भिन्न मानना होगा अर्थात् ईश्वर का स्वीकार करना होगा।

४. यदि “ उन ज्ञान अणुओं को समूह शक्ति का प्रयोजन पहले से ही ज्ञात होने के कारण उस प्रयोजन के अनुसार वे स्वयं ही उत्क्रांति करने वाले कहे जाएँगे” तब अपूर्ण दशा में ही पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होती है। फिर ज्ञान की उत्क्रांति का प्रयोजन ही नष्ट हो जाता है।

(अ) “ज्ञान पूर्व है” फिर ज्ञान की उत्क्रांति कैसी?

(आ) “उत्क्रांति का अर्थ परिणाम समझा जाए” तो ज्ञान का परिणाम ज्ञान से भिन्न पदार्थ अर्थात् अज्ञान को ही मानना होगा।

(इ) “ज्ञान का परिणाम ज्ञान” ही माना जाए तो उन दो ज्ञानों में भिन्नता न होने के कारण ज्ञान का परिणाम स्वीकारना भी पागलपन ही है।

५. “पहली दशा में अणु को जड़ रूप माना गया है। यहाँ ज्ञान का कहीं काम ही नहीं है। बाहर से ज्ञान शामिल होता हो तो पूर्णज्ञान संपन्न को चेतन अर्थात् ईश्वर मानना ही होता है।”

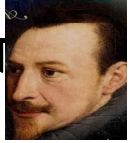
* जड़ अणु के अज्ञान और ज्ञान में कार्य-कारण आदि कोई कड़ी नहीं होती, अतः जड़ से ज्ञान कैसे उत्क्रांत होगा, इसका उत्तर नहीं मिलता।

६. जड़ अणु का सहवासी ज्ञान का अणु माना जाए तो आकाश को भी ज्ञान रूप ही मानना होगा। और फिर तीन प्रकार के ज्ञान में भिन्नता सिद्ध नहीं हो पाएगी। अतः अनेक ज्ञानाणुओं की भिन्नता सिद्ध नहीं हो पाएगी। ऐसे अनेक तर्कपूर्ण प्रश्न उपस्थित करके अनवस्था का प्रसंग खड़ा होता है। इसे महाराज शास्त्रीय परिष्कार देकर खंडित करते हैं



(२४)

स्पेन्सर के संशयवाद की समीक्षा ज्ञान का अणु असंभव



स्पेन्सर ने नई उत्पत्ति खोज निकाली है कि “कई ध्वनियाँ मिलकर जिस तरह से नाद उत्पन्न होता है उसी तरह से ज्ञान के अणु मिलकर उष्णता ज्ञान आदि परिणाम उत्पन्न होते हैं।”

७. इस उपपत्ति में ज्ञान को दृश्य माना गया है या शक्ति माना गया है, यह विचार स्पष्ट नहीं है?

(अ) “ज्ञान दृश्य वस्तु है”, यह सोचा भी नहीं जा सकता।

(ब) “ज्ञान शक्ति है”, इसे मानने पर उस आधार रूप में किसी जड़ पदार्थ का रूप देना ही होगा। उस आधार को मस्तिष्क माना जाए तो जड़ अणुओं से बना यह मस्तिष्क ज्ञानाणुओं का संयोगी बनता है अर्थात् जड़ में ज्ञान है या ज्ञान में जड़ता है। इस कथन में कोई अर्थ शोध नहीं रहता।

८. इस जड़ की या ज्ञान की कड़ी को मिलाने के लिए हमारे यहाँ एक विद्वान् कोशिश करते हैं। महाराज इस बारे में कहते हैं कि उन्होंने परमाणु की तीन अवस्थाएँ बतलाई हैं—१. द्रव्यात्मक, २. गुणात्मक, ३. संस्कारात्मक।

इनमें आखिरी यानी संस्कारात्मक दशा चैतन्य की कड़ी है। इस बारे में महाराज ने चार प्रश्न उपस्थित किए हैं। “ज्ञान पर मिथ्या विवर्तभूत मन परमाणुओं का तीव्र संवेग ही जग है।” इस अर्थ से उपरोक्त विचार वेदांत से मिलते-जुलते हैं। किन्तु फिर भी “जड़ चैतन्य में मेल नहीं हो सकता”, यह भारतीय सिद्धांत उसी तरह से कायम होता है। इसे महाराज विस्तार से बतलाते हैं। इस अवस्था को झूठा माना जाए तो वेदांत के अनुसार विवर्त हो ही जाता है। फिर भी उसका चैतन्य से मेल नहीं हो सकता।६

जड़ से जीव की उत्पत्ति

प्रश्न—जड़ से जन्तु उत्पन्न करने की प्रक्रिया पाश्चात्य लोगों ने खोज निकाली है। अतः आत्मा उत्पन्न होती है और मरती है। यह मानना ही युक्तिसंगत दिखता है।^७

उत्तर—१. कदापि नहीं, इससे यही सिद्ध होता है, कि जड़ में भी चैतन्य है। “जो नहीं है वह कभी भी उत्पन्न नहीं होता” इसमें आर्यों का सत्कार्यवाद ही दिखलाई देता है। (फिजिक्स में यही तत्त्व सिद्ध किया गया है। मोमबत्ती जल जाती है किन्तु नष्ट कुछ भी नहीं होता, केवल परिवर्तन होता है—इति फिजिक्स)

२. घास आदि को कितना भी पकाया जाए फिर भी उसमें एक किस्म का स्वेद उत्पन्न होकर उसमें से स्वेदज प्राणी ही उत्पन्न होगा, यही हमारी उपपत्ति है।

३. बाहर से जंतु का प्रवेश होता है, और पदार्थ में प्रवेश पाता है, यह उपपत्ति पाश्चात्यों की है, हमारी नहीं।

४. मिट्टी से सबकी उत्क्रांति मानें तो पेड़—प्राणी इन सबमें भिन्नता कैसी? उत्क्रांति एक ही दिशा में होनी चाहिए।

५. ठिक हैं, पर पेड़ से प्राणी सृष्टि की उत्पत्ति तो नहीं कही जा सकती।

६. जीव सृष्टि मिट्टी का परिणामी कार्य मान लें तो “दही का परिणामी कार्य नष्ट हो जाने पर हमें दूध नहीं मिलता।” उसी तरह से वृक्ष या मनुष्य आदि प्राणियों के मृत होने के बाद उनकी मिट्टी नहीं होनी चाहिए। अतः मिट्टी को ‘परिणामी कारण’ नहीं कहा जा सकता।

७. निर्जीव पदार्थों का सजीव पदार्थ में रूपांतर होना ही उत्क्रांति का मूल रूप माना जाय तो मूल कारण को निर्जीव कहना होगा। और आगे अनंत काल बाद सभी पदार्थ सजीव में पूर्ण रूप से

उत्क्रांति हो सकती है। ऐसा होने पर, सभी समान होने के कारण उनकी भिन्न-भिन्न जातियाँ नहीं बतलाई जायेंगी। ऐसा होना संभव ही नहीं है, क्योंकि सजीव-निर्जीव पदार्थ आज परस्पर विरोधी तत्त्व हैं। मनुष्यों में आपस में वैर भाव होता ही है। अति उत्क्रांत व्यक्ति भी दूसरे के प्रति द्वेष भाव रखता ही है। और उसे नष्ट करने का यत्न करता ही है। अतः सबकी पूरी तरह से उत्क्रांति संभव नहीं है।

जगत् का कारण

असमर्थता या समर्थता? या अन्तसहित या अनंत?

जगत् के कारण को जड़ माना जाए, तो उसकी समर्थता, असमर्थता का प्रश्न उपस्थित होता है।

१. जगत् कारण असमर्थ कहा जाए तो वह नियमरूप होता है। और उसे नियंता की अर्थात् परमेश्वर की, अर्थात् समष्टि ईश्वर की आवश्यकता होती है।

२. जगत् के कारण समर्थता माना जाय तो उसे जग की व्यवस्था का ज्ञान होना चाहिए। क्योंकि अज्ञानता से व्यवस्था नहीं हो सकती और इसे ही सच माना जाय तो वह आर्यों द्वारा प्रतिपादित चेतन ही कहलायेगा।^९

३. जग का कारण जड़ होगा तो वह अनंत अर्थात् पूर्ण होता है। या संत अर्थात् अपूर्ण होता है? इसमें से कुछ भी माना जाए तो उत्क्रांति नहीं हो सकती।

४. पूर्ण हो तो उत्क्रांति होकर पूर्ण बनने की जरूरत ही नहीं।

५. अपूर्ण हो तो उसमें पूर्ण होने की शक्ति नहीं होती। मर्यादा में सीमित पदार्थ अमर्याद कैसे हो सकता है? जो पदार्थ अवयव है वह कैसे बनेगा? अवयव या अंग कहलाने वाला पदार्थ पूर्ण निरवयवी पदार्थ कैसे कहलाएगा?

६. “पशु से उत्क्रांति होते-होते मनुष्य बना” इस संकल्पना को मान भी लें तो सुविज्ञ मानव को अभिप्रेत उत्तम नीति पशु में भी स्वभावतः दिखाई देनी चाहिए। फिर उसका जहास मनुष्य में कैसे हुआ? १. गाय, बकरी जैसे अहिंस्र प्राणियों की प्रवृत्ति हिंसा करके मांस भक्षण की ओर कदापि झुकती नहीं है। २. पशुओं में काम विकार नियमित समय पर ही उत्पन्न होते हैं। और वे भी सजातीय मादा ही चुनते हैं। ३. ऐसी नीति को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अनेक प्रयत्न करने पड़ते हैं। अर्थात् नीति की दृष्टि से मनुष्य पशु की तुलना में निम्नतर का ही माना जाएगा। फिर पशु से मनुष्य की उत्क्रांति हुई, यह कैसे कहा जा सकता?

पशुओं में उपस्थित ‘बल’ मानव में लगभग न के बराबर है। (शेर, सिंह, मगरमच्छ, साँप, बट-पिंपलादि वृक्ष) इनसे मानव का जीवनकाल भी छोटा होता है। फिर भी बुद्धिजीवी वर्ग की जननशक्ति भी मूर्ख और बलवानों की तुलना में कम ही होती है।

असमर्थं समर्थं वाऽचेतनं विश्वकारणम्।

आद्ये नियम्यरूपं स्यात् द्वितीये चिद्व्यवास्थितिः॥११॥

अनंतमथवा सान्त जगतः कारणं जडम्।

उभयत्रापि नोत्क्रांतिः पूर्णत्वाच्छक्त्यसंभावत्॥१२॥

नीतिः स्वभावात्तिर्यक्षु याऽस्ति मानवेषु च।

प्रयत्नेन समुत्पाद्या कथमुत्क्रांतिशंसनम्॥१३॥

भविष्यत्येव मे मुक्तिर्यथाकालमुपेक्षया।

वर्धनं विषयासक्तेरुत्क्रांतिस्थितिभाषणम्॥१४॥

(य. १२, बाळकृष्णपंत केंकरे को लिखा पत्र, पृ. ३०-३१)

अर्थात् कहीं उत्क्रांति स्पष्ट दिखाई देती है, तो कहीं अपक्रांति।

इसलिए पशु से मनुष्य की उत्पत्ति की कल्पना ही असत्य है। इससे

कर्मफल को भुगतने के लिए जीव का एक योनि से दूसरी योनि में जाना पुनर्जन्म का गमनागमन के इस सिद्धांत को ही सभी दृष्टि से योग्य और सच मानना चाहिए।

मुक्ति की उपेक्षा करके उत्क्रांतिवादी अपनी भोगभक्ति को ही बढ़ाते हैं। आहार-निद्रा-भय-मैथुन ये चार चीजें पशु और मानव में एक से होते हैं। किन्तु मनुष्य में धर्म ही विशेष और अधिक है। और यह धर्म स्वयं प्रयत्न किए बिना साध्य नहीं होता। सच्ची उत्क्रांति धर्म के अनुसार आचरण से ही होती है। इस तरह से भारतीय उत्क्रांतिवाद प्रयत्न साध्य है। पाश्चात्यों के समान स्वाभाविक नहीं।

उत्क्रांति सांत या अनंत?

७. उत्क्रांति को सांत माना जाए तो अनंत काल व्यतीत होने के कारण, अब तक उत्क्रांति समाप्त कैसे नहीं हुई?

८. काल का आदि कोई नहीं बतला सकता, अतः काल का स्वरूप अज्ञेय है। स्पेन्सर का मत यह है, तो उत्क्रांति का स्वरूप भी अज्ञेय ही होगा।

९. फिर उत्क्रांति और अपक्रांति के बीच की कड़ी अस्पष्ट बन जाएगी। जिससे कर्म फलजन्य चक्र को ही मानना होगा।

१०. उत्क्रांति को अनंत माना जाए, तो उत्क्रांति का उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता, और हर घड़ी को समान रेखा पर रहना होगा।

१. उत्क्रांति और पुनर्जन्म^{१०}

१. एक देह से दूसरे देह में प्रवेश करना, पुनर्जन्म है।

२. देह और आत्मा भिन्न है।

३. अविद्या, काम और कर्म इनके द्वारा मनुष्य निम्न या उच्च योनि में प्रवेश पाता है।

४. योगी-महात्मा किसी कारणवश निम्न योनि में चले जाते

हों फिर भी उनका ज्ञान बना रहता है। उदाहरण के लिए जड़भरत हरिण की योनि में, नलकूबर वृक्षयोनि में, जाकर भी उनकी पूर्वजन्मस्मृति कायम थी।

५. किन्तु स्वाभाविक कर्म से पुनर्जन्म प्राप्त पुरुष को पुनर्जन्म की स्मृति नहीं रहती।

६. पूर्वस्मृति के लिए अतिमानुष प्रयत्नों की जरूरत है।

७. मानुषज्ञान या उत्क्रांत अवस्था बाप से बेटे में नहीं आती। उसके लिए स्वप्रयत्न ही आवश्यक हैं।

८. देह दैवपरतंत्र होता है। प्रयत्न से सत्त्वगुण प्राप्त किया जाए तो जीव श्रेष्ठ योनि में प्रवेश पाता है।

उत्क्रांतिवाद

१. एक विशेष पद की शक्ति दूसरे विशिष्ट पदार्थ में उत्पन्न करके अपने अगले गुणधर्मों को अधिक व्यक्त करते रहना है।

२. पहले का स्वभाव नष्ट होता रहता है। पिता के गुण पुत्र में, पुत्र के नाती में यूँ गुण बढ़ते जाते हैं, उत्क्रांत होते रहते हैं।

थियासॉफी में उत्क्रांतिवाद

३. उत्क्रांतिवाद में पुनर्जन्म माना गया है। (अर्थात् जीव चेतन और जड़ के भेद को स्वीकारा गया है।)

४. आत्मा दूसरे देह में प्रवेश पाता है, किन्तु वहाँ आत्मा के गुणधर्मों का विकास होता है।

५. मनुष्य की आत्मा निम्न योनि में नहीं जाती, ऐसा माना जाता था परंतु अब

६. निम्न योनि में आत्मा के जाने पर देह बदलने के बाद भी मन वही रहता है। (मनुष्यज्ञान) ऐसी मान्यता थियासॉफिस्टों की है।

२. उत्क्रांतिवाद और परिणामवाद

पाश्चात्य उत्क्रांतिवाद और पौरात्य परिणामवाद एक नहीं हैं।

१. परिणामवाद के अनुसार वस्तु ही सत् रूप में उत्पन्न होती है और

२. वही समा जाती है, विलीन होती है।

३. पुरुष का मोक्ष ही प्रयोजन है।

४. पुरुष नित्य है। (सांख्यदर्शन)

.....

१. विकास करना या उत्क्रांत होना पुरुष का प्रयोजन है।

२. वही समा जाती है, विलीन होती है।

३. पुरुष का मोक्ष ही प्रयोजन है।

४. पुरुष नित्य है। (सांख्यदर्शन)

५. विकास में लय का भाव नहीं है।

६. ऐसा माना गया है कि उत्क्रांति में जीवशक्ति मृत होने पर नष्ट हो जाती है।

७. कुछ को जीवशक्ति की नष्ट होने में संदेह है।

अज्ञेयवाद और उत्क्रांतिवाद^{१२}

स्पेंसर इन दोनों को मानता है। “मुझे कुछ समझ में नहीं आता” यही अगर अज्ञेयवाद का प्रयोजन है यह तो पहले से ही सबको मालूम है। फिर उत्क्रांति का हेतु क्या है?

उत्क्रांति और अपक्रांति

महाराज कहते हैं^{१३} मैं उत्क्रांति और अपक्रांति इन दोनों को मानता हूँ। केवल उत्क्रांति को स्वीकृति देकर अपक्रांति को न मानना यह बुद्धि की असभ्यता कहलाएगी। इन दोनों को हमारे गमनागमन सिद्धांत में सम्मिलित किया गया है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि महाराज स्वाभाविक उत्क्रांति को अस्वीकार करते हैं और प्रयत्नवाद

की उत्क्रांति को स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि प्रयत्न से हर जीव ईश्वर बन सकता है।^{१४}

स्पेन्सर का अज्ञेयवाद

महाराज का मत यह है कि स्पेन्सर नास्तिक न होकर आस्तिक अधिक है।^{१५} किन्तु वह धर्म के आधार तत्त्व और जग के कारण-धर्म, जीव, मन आदि को अज्ञेय कहता है। इस प्रसंग पर महाराज अनेक आक्षेप उठाते हैं, और स्पेन्सर के मत को असंगत सिद्ध करते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञेयमीमांसा और अज्ञेयमीमांसा इन दो ग्रंथों के नाम से ही उनका विरोध स्पष्ट होता है।

ज्ञेय मीमांसा में स्पेन्सर से उत्क्रांतिवाद का ही अवलंब लिया है। उसमें यह कहा है कि देह तक सीमित ज्ञान से हमारा सब कुछ निबटता नहीं है अतः और भी ज्ञान की आवश्यकता होती है। स्पेन्सर के इस मत के आधार पर वे स्पेन्सर को कुछ नास्तिक मत से भिन्न बतलाते हैं।

अज्ञेय मीमांसा में धर्म और शास्त्र का एकीकरण बतलाया गया है, और उसे अज्ञेय ही कहा गया है। आकाश, काल, द्रव्य, गति, शक्ति, मन, जीव सभी अज्ञेय हैं। इन सबका एक अधिष्ठान है। किन्तु वह भी हमारी भावना द्वारा ही सीखा जाता है। इसे अनपेक्ष ज्ञान कहते हैं जिसका अर्थ है केवल भावना, अन्य कुछ नहीं। वह स्पेन्सर का मत है।

समीक्षा

आन्तर पदार्थ

१. आकाश, काल, द्रव्य, गति, शक्ति, मन, जीव इन सबका अधिष्ठान अज्ञेय हो तो एकदेशीय भावनारूपी ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ होगा?

२. भावना का अंतस्वरूप यदि अज्ञेय है तो भावना ही नष्ट हो जाएगी।

३. भीतर से अज्ञाता और बाहर से ज्ञाता, इस रूप में भावना कैसे बनी रह सकती है?

४. यह अज्ञेय भाव एकदेशीय है या सर्वदेशीय?

५. अज्ञेय भाव को सर्वदेशीय माना जाए तो एक देश में ज्ञानशक्ति कैसे स्थित रह पाएगी?

६. अज्ञेय भाव को एकदेशीय मानने पर सर्वत्र व्याप्त ज्ञान को एक देश पर केंद्रित कैसे किया जा सकेगा?

बाहरी पदार्थ

७. क्या आकाश तथा काल है?

‘नहीं’, उत्तर होने पर उनके अस्तित्व की कल्पना की जा सकती है, और उनका ज्ञान संभव है (और उसके अनुरूप व्यवहार संभव है) फिर उन्हें अज्ञेय कैसे कहा जाए?

८. शक्ति का अंतःस्वरूप बताया नहीं जा सकता। फिर भी द्रव्य के परमाणुओं से उनका बहुत ही तादात्म्य है।

९. स्पेन्सर ने द्रव्य और शक्ति इन दोनों को भिन्न बताया है। आईस्टिन ने १९०५ में वस्तु (मैटर) का शक्ति में और शक्ति का वस्तु में रूपांतर संभव है, यह सूचित किया था। और आगे चलकर अणुशक्ति के संशोधन में यही सिद्ध हुआ है। (अणुशक्ति आज आणि उद्या-(पृ. २८), परचुरे प्रकाशन मंदिर, मुंबई) माना है और उस आधार पर नास्तिक विचार का खंडन किया गया है। महाराज सर विलियम के अनुयायियों के संयोग शक्ति के मत के बल पर स्पेन्सर के मत का खंडन करते हैं। और कैसे स्पेन्सर नास्तिक मत का सही खंडन नहीं कर पाए हैं इसे भी स्पष्ट करते हैं। उस संयोग शक्ति को

परमाणु ही मान लिया जाए, तो परमाणु स्वयंभू कहलाते हैं। और नास्तिक मत पर कैसे संकट आते हैं, इसे स्पष्ट किया गया है।

१०. वह अज्ञेय शक्ति सर्वव्यापी हो तो ऐसे संशयात्मक वचन स्पेन्सर कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि स्पेन्सर किसी भी मत पर दृढ़ नहीं है।

* अज्ञेय शक्ति सर्वव्यापी कहने पर ज्ञानशक्ति भी अज्ञेय शक्ति में ही समाहित हो जाती है।

* आर्य रीति के अनुसार संदेह और निश्चय दोनों ही ज्ञानशक्ति के घटक हैं। अतः स्पेन्सर के पल्ले संदेहवाद ही आ गिरता है।

११. उस केवल के अस्तित्व को अज्ञेय माना जाए, तो 'अज्ञेय है' यह मानने वाली शक्ति ज्ञानशक्ति कहलाती है।

इस ज्ञानशक्ति को अज्ञेय माना जाए तो स्वयं को भी अज्ञेय मानना होगा। (फिर व्यवहार किससे होगा? किन्तु व्यवहार होता है अतः ज्ञानशक्ति अज्ञेय नहीं रह सकती।)

१२. जिन वस्तुओं का अस्तित्व मानना चाहिए, उनका आभास हमारी ज्ञान शक्ति को होना ही चाहिए। इसके बिना उन वस्तुओं का अस्तित्व तय नहीं किया जा सकता। यदि आभास माना जाए तो ज्ञानशक्ति को मानना ही होता है। क्योंकि अज्ञेय का अज्ञान से आभास संभव नहीं है। अतः ज्ञानशक्ति को स्वीकार करना ही होता है।

१३. अब इस ज्ञानशक्ति को क्या माने? अधिक या स्वयंभू? क्षणिक मानें तो वह किससे उत्पन्न होती है? यूँ तो नहीं कहा जा सकता कि अज्ञेय से ज्ञान शक्ति उत्पन्न हुई है। क्योंकि ज्ञान ज्ञेयानुसार होता है। अज्ञेय के अनुसार ज्ञान कभी नहीं होता।

१४. अज्ञेय से ज्ञान की उत्पत्ति का अर्थ है अंधकार से प्रकाश

उत्पन्न होना कहने जैसा हास्यास्पद है।

१५. इस तरह यष्टि १२ के पत्र में स्पेन्सर के मत संबंधी अनेक प्रश्न पूछकर सूत्ररूप से खंडन भी किया गया है। महाराज लिखते हैं—

“ज्ञानशक्ति व्यष्टिरूप है। अतः समष्टिरूप ज्ञान का आकलन उसके द्वारा संभव नहीं। किन्तु क्या इतना कह देने भर से उसे अज्ञेय कहा जाए?”

१६. इस ज्ञानशक्ति को स्वयंभू ही मानना चाहिए। उल्लू की आँखें सूक्ष्मरूप में उसकी पुतलियों में होती हैं उसी तरह ज्ञान की शक्ति अपने सूक्ष्मरूप में हममें ही होती है। नींद में जैसे ज्ञान का होना पता नहीं चलता, किन्तु जागने पर नींद का स्मरण होता है, तो क्या यह अज्ञान से संभव है? इसी तरह ज्ञानशक्ति स्वयंभू है। (वह सिर्फ व्यक्त और अव्यक्त होती रहती है।)

इस तरह के युक्ति-प्रयक्तियों से स्पेन्सरवादियों को स्वयंभू ज्ञानशक्ति को स्वीकार किये बगैर अन्य गति नहीं है, इसे महाराज ने स्पष्ट किया है।

१७. उन्होंने अचूक युक्तियों से यह भी सिद्ध किया है कि जग की क्रिया करने वाली समष्टि में व्याप्त यह स्वयंभू महाशक्ति एक सर्वव्यापी सत् अधिष्ठान पर खड़ी है।

अनंत रूप अभाव भी नहीं तथा अज्ञेय भी नहीं।^{१६}

१८. जंगली आदमी की बुद्धि बहुत कम जान सकती है। उस बुद्धि के उस पार सब कुछ अनंत और अज्ञेय है, यही वह समझता है।

१९. सचमुच यदि यह अज्ञेय रह जाता है, तो उसका मन सुसंस्कारित होने के बाद भी उस पार वह कुछ नहीं पाता। किन्तु कुछ प्राप्त हुआ ही है इसलिए “अनंत अभाव स्वरूप नहीं है, भाव स्वरूप

है” यही साबित होता है।

२०. जंगली मनुष्य जिन बातों को अज्ञेय मानता था, वहीं सुसंस्कृत मनुष्य को ज्ञेय लगती हैं।

२१. विश्व को अंत-रहित और बुद्धि को अंत-सहित भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि बुद्धि की वृत्तियाँ अनंत हैं इसे पाश्चात्यों ने भी सिद्ध किया है।

२२. अज्ञेयवादियों ने बाह्य और आध्यात्मिक सभी को अज्ञेय ही माना है, अतः अज्ञेय कहने वाला भी अज्ञेय ही कहलाने का प्रयत्न करने लगा। फिर अज्ञेय का आकलन कैसे संभव हो सकता है?

२३. कुछ अज्ञेयवादी उत्क्रांति को मानते हैं। किन्तु इस तरह से उत्क्रांति का उद्देश्य अधिक गूढ़ बन जाता है।

२४. इसलिए उपनिषद-गम्य सत्तांश के साथ ही जुड़ा हुआ अनंत बनना ही है, इसलिए “सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म” यह श्रुति-सिद्धांत ही शेष रह जाता है।^{१७}

अज्ञेयवाद तथा अनादिवाद

अज्ञेयवाद

अनादिवाद

- * उत्पत्ति होती है किन्तु हम जान नहीं पाते
- * उत्पत्ति कदापि नहीं होती।
- * वस्तु अदृश्यमान होती है।
- * वस्तु दृश्यमान है।

अज्ञेयवाद के अभिप्राय का अर्थ है कि, हम न जान सकें तो भी दूसरे श्रेष्ठ बुद्धि के जन जान सकेंगे। किन्तु बुद्धि के साधारण धर्म एक जैसे ही होते हैं। और विशेष धर्म ही बदलते हैं इस बारे में भी

महाराज अनेक संदेहों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं।^{१८}

जिसने अज्ञेयवाद खोज निकाला है, वह उत्क्रांतिवाद भी मानता है। ऐसी स्थिति में ‘मैं नहीं जान पाता’ इतना उत्क्रांतिवाद का मंतव्य हो तो, इसे तो पहले से ही सब जानते हैं। फिर उत्क्रांति होने का प्रयोजन क्या शेष रहा? यह प्रश्न उपस्थित होते ही अपने ही हाथों से पैरों पर कुल्हाड़ी मारने के समान हो जाता है।^{१९}

द्वादश यष्टि के प्रथम पत्र में महाराज स्पेन्सरमतवादियों को सीधे सवाल पूछकर इस पत्र का समारोप करते हैं। वे कहते हैं-

“आपके मतानुसार सब कुछ यदि अज्ञेय है, तो आप स्वयं भी अज्ञेय ही हैं। फिर देहमात्र का ज्ञान पूरा ज्ञान नहीं है। इससे भी अधिक ज्ञान चाहिए, यह क्यों कहते हैं? जो कभी ज्ञेय नहीं बन सकता ऐसे अज्ञेय के ज्ञान की माँग करने का अर्थ है अपनी बात को स्वयं ही काटना।” जो बात शब्दों से स्पष्ट नहीं हो सकती इसलिए अज्ञेय रह जाती है इसका कारण हमारा अज्ञान है। वस्तुतः जिसे अस्तित्व है वह अज्ञान कदापि नहीं रह सकता। ऐसा हो भी नहीं सकता।

“ज्ञेयाज्ञेय अतीत स्वयं ही आनंद रूप है, तटस्थ है, यही जग का कारण कहलाता है, और उसका ही आभास यह जग है।” इस वेदांत सिद्धांत को छोड़कर अंटशंट लिखकर उलझाव भरे ग्रंथों की रचना करने में क्या हेतु हैं? क्या इसे मतभेद सहिष्णुता कहा जा सकता है?

मैं भी जान नहीं सका और दूसरे भी नहीं जानते, ऐसा कहकर अपना निश्चित मत किसी के बारे में भी न देना और पलायन करना गुरुता का लक्षण नहीं है।

इस तरह से स्पष्ट शब्दों में स्पेन्सर के मतों की अग्राह्यता को

महाराज बतलाते हैं। विस्तार से जानने में उत्सुकता हो तो महाराज के मूल लेख पढ़े जाएँ।

संदेहवाद

पाश्चात्य समाज में संदेहवाद नाम से तथाकथित तत्त्वज्ञान या दर्शन फैल रहा है। उसका परिणाम हमारे देश के सुशिक्षित कहलाने वाले बुद्धिमान वर्ग पर जलद गति से होता दिखलाई दे रहा है। यह बड़ा ही घातक वाद है इसका समूल नाश आवश्यक है। इस दृष्टि से महाराज के मूलभूत विचारों को जानना जरूरी है।

संदेहवादियों को सदैव एक प्रश्न कुरेदता है कि “कोई वस्तु तीनों कालों में कैसे व्याप्त हो सकती है?”^{३०} किन्तु व्यवहार की हर वस्तु नष्ट होती है यह जानकर भी उसे सत्य मानकर संदेहवादी भी व्यवहार पूर्ण करते हैं। डॉक्टर के हाथों कभी-कभी रोगी को जान गवाँनी पड़ती है, यह ज्ञात होकर अपनी बारी आने पर उसी डॉक्टर की दवाई पर विश्वास धरकर ये संदेहवादी चिकित्सा करवा लेते हैं।

कई स्त्रियों ने उनके पति को धोखा दिया है, यह जानकर भी अपनी स्त्री पर विश्वास रखते ही हैं। बेटा पिता का खून करता है, ऐसा साक्ष्य देनेवाली कई घटनाएँ होती हैं, फिर भी संदेहवादी व्यक्ति “यह मुझे नहीं मारेगा” यह कहकर विश्वास रखकर ही व्यवहार करता रहता है। उसी तरह जो हमें चाहिए उसके प्रति संदेह प्रकट न करना और जो नहीं चाहिए उसके प्रति संदेह व्यक्त करना, यह संदेहवादी को शोभा नहीं देता।

सर्व शंकाभिराक्रांतं अन्नं पानं च भूतले।

अन्न, जल और जग की हर जड़ चेतन वस्तु में संदेह निर्माण होने पर जीवित रहना दूभर हो जाएगा। अतः सच्चा संदेहवादी इस

जग में प्राप्त होना कठिन ही है। अब जो संशयवादी है वे सभी व्यवहार छोड़कर केवल परमार्थ के सत्य का शोर मचा रहे हैं, क्योंकि उन्हें संसार चाहिए है, परमार्थ नहीं। ऐसी स्थिति में संदेहवादियों की जैसी परख महाराज करते हैं, वह जानने योग्य है।

१. कोई एक वस्तु तीनों काल में कैसी रह सकती है? यह संदेहवादियों का प्रश्न है।

विशेष वस्तु तीनों कालों में रहेगी इसे आर्य तत्त्ववेत्ता भी नहीं मानते। किन्तु (क) व्यवहार में “चित्-ता” और (ख) परमार्थ में “सत्-ता” तीनों कालों में होती ही है। अन्यथा आगे उत्पन्न होने वाले पदार्थ की पहचान हो ही नहीं सकती।

२. एक के समान दूसरा पदार्थ निर्माण होने से उसका किसी न किसी जाति में समावेश होता ही है।

३. एक से विरोधी दूसरा पदार्थ निर्माण होने पर भी उसका अस्तित्व तो होता ही है अर्थात् उसकी जमात सत्तारूप तो माननी ही होगी। संदेहवादी इस दशा में भी छूट नहीं सकते। उन्हें भी पदार्थ की सत्ता को स्वीकारना होता है।

४. पदार्थ ऐसा हो या वैसा, उसका अस्तित्व तो होगा ही। इस अस्तित्व का अर्थ ‘सत्’ है और “यह सत् त्रिकालबाधित है” यह आर्य वचन है।

५. ठीक है, यदि सत् भी न बचेगा तो संदेहवादी कहेगा कि हम अभाव को कैसे मान लें? और अभाव का होना मान लेता है तो उसके ही मूल विचारों पर आघात होता है।

६. ठीक है, “सत्ता सदैव नहीं होती” यह मान लिया जाए तो भी संदेह का अस्तित्व शेष नहीं रहता।^{३१}

पाश्चात्य विचार समीक्षा

(३९)

संदेह का अस्तित्व ही जब शेष न रहा तो संदेहवाद शून्य हो जाता है। इसी तरह संदेहवादी संदेह के अस्तित्व को ग्रहण भी नहीं कर सकता। अपने अस्तित्व को भी उसे अस्वीकारना होगा। अतः अपने या संदेहवाद के बारे में जब निश्चित नहीं है तो उसके प्रतिपादन को उन्मत्त के प्रलाप के सिवाय अन्य कुछ नहीं कहा जा सकता।

उपसंहार

महाराज ने अपने सूत्रों द्वारा इस तरह से डार्विन और स्पेन्सर के मतों की समीक्षा की है। इनको मूल ग्रंथों से पढ़ना चाहिए। श्री जठार को लिखे पत्र में महाराज लिखते हैं कि-

“जग में व्यवहार को घटित करने वाली महाशक्ति किसी न किसी एक सर्वव्यापी सद्-व्यापी सद्-अधिष्ठान पर आश्रित है, यह निर्विवाद सिद्ध होता ही है। अब बहुत उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। विचारकों को चाहिए कि वे और उदाहरणों को एकत्रित करें।”

इस तरह महाराज पाश्चात्य मत का भारतीय दृष्टिकोण से मूल्यमापन कैसे किया जाए इसका आदर्श दिखलाया है। भारतीय न्यायशास्त्र के परिष्कार रीति का अध्ययन कर मनन की आदत डाल लेने पर किसी भी नये मत को तर्क निष्कर्ष को जाने बगैर मन तृप्त नहीं होता। अंततः जो न्यायशास्त्र की अग्निपरीक्षा में खरा ठहरता है वही सच्चा सुवर्ण कहलाता है। इस कारण संस्कृत भाषा में प्राचीन आर्यशास्त्र का अध्ययन ही सत्य के निकट जाने के लिए महत्वपूर्ण है यह महाराज के पाश्चात्य विचारकों के सिद्धांतों पर उठाए आक्षेप और उनके खंडन-मंडन से सहज सिद्ध होता है।

(४०)

संदर्भ

१. उत्क्रांतिवाद पा. २५, ले. इंदुमती पारीख,
समाज प्रबोधन संस्था प्रकाशन १४, पुणे १९६३.
२. य १२, पृ. १-७
३. अलौ. व्याख्याने आवृत्ती ५ वीं. प्र. २, पृ. २३-२६
४. अलौ. व्याख्यानमाला, पृ. २६
५. अलौकिक व्याख्यानमाला व्या. ९, पृ. १७०-७४
६. अलौ. व्याख्यानमाला, पृ. १७५
७. साधुबोध प्रश्न ६१०, ८. य १२, पृ. ३०-३१
८. श्लो. ११, य १२ पृ. ३०-३१
९. साधुबोध प्र. ६०८
१०. साधुबोध प्र. ६०९
११. साधुबोध प्र ६०७
१२. साधुबोध प्र. ६१२
१३. य ८, पृ. ३३७
१४. सिद्धि य १५, पृ. २१५-२३४/य १२, पृ. ६-१२
१५. साधुबोध प्र. ६०५-६०६-६०७
१६. साधुबोध प्र. ६०५
१७. साधुबोध प्र. ६०६
१८. साधुबोध प्र. ६०७
१९. साधुबोध प्रश्न ६०३
२०. साधुबोध प्र. ६०३

